

## संस्कृत वाङ्मय में नाट्यकला का विकास

माला देवी\*

नाट्यकला के विकास का इतिहास मानव-जीवन के इतिहास के साथ जुड़ा हुआ है। जैसे-जैसे मानव जीवन में विकास हुआ वैसे-वैसे नाट्य के क्षेत्र में भी विकास होता रहा है। प्रागैतिहासिक युग में मोहनजोदड़ों और हड़प्पा नामक स्थानों में जो उत्खनन हुआ है, उनमें प्राप्त अवशेषों से तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति का परिचय प्राप्त होता है। उनमें प्राप्त मूर्तियाँ तत्कालीन नाट्य एवं नृत्यकला का स्वरूप स्पष्ट करती हैं।<sup>1</sup> उसके देखने से ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकला (अभिनय) एवं नृत्यकला विकसित हो चुकी थी और उनका समाज में पर्याप्त प्रचलन हो चुका था। नर्तक-नर्तकियों की वेश-भूषा, हस्त-पादादि की स्थिति, भावों की अभिव्यक्ति आदि तत्कालीन अभिनयकला की समृद्धि का परिचय देते हैं। इनके अतिरिक्त भी भीमबेटका की गुफाओं में आदिम नृत्य के कई रूप अंकित हैं।<sup>2</sup> नृत्य में मुखौटों के प्रयोग के भी संकेत मिलते हैं। अजन्ता और बाघ की गुफाओं में, अमरावती में नृत्य और संगीत में रत यक्ष, यक्षिणी, किन्नर, गन्धर्व, अप्सराओं एवं नारियों के चित्र अंकित हैं।

वैदिक काल में नाट्यकला का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। वैदिक युग का महत्वपूर्ण अनुष्ठान यज्ञ था। यज्ञ के विधि-विधानों में नाट्यीय प्रदर्शन के तत्व भी विद्यमान थे। सोमयाग में अध्वर्यु-सोमविक्रयी संवाद स्वयं में एक नाट्यीय प्रदर्शन था। यज्ञ के विभिन्न अनुष्ठानों में नाट्य-प्रदर्शन की एक भावना होती थी। ऋग्वेद में 'समन' नामक एक सामाजिक उत्सव का उल्लेख मिलता है।<sup>3</sup> यह उत्सव मेला के रूप में आयोजित होता था, जिसमें अनेक कलाकार नर, नारी, गणिकाएँ, कवि, घुड़सवार, धनुर्धर आदि सभी कलाप्रदर्शन के लिए उपस्थित होते थे। यही 'समन' उत्सव आगे चलकर 'समज्जा' नाम से प्रचलित हुआ और महाभारत काल में अत्यन्त लोकप्रिय हो गया।

यजुर्वेद में एक रङ्गशाला का वर्णन मिलता है जिसे 'सभा' कहते थे। उसमें नृत्य के लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष को, हँसाने के लिए विदूषक को, प्रसाधन के लिए कलाकारों को तथा वीणावादक, दुन्दुभिवादक, वंशीवादक एवं

तालधारी आदि को नियुक्त किया गया था।<sup>4</sup> अथर्ववेद में गन्धर्व, गायक, नर्तक आदि के साथ दुन्दुभि, कर्करी आदि वाद्यों का भी उल्लेख है।<sup>5</sup> ऐतरेय आरण्यक में सोमयाग में सामूहिक नृत्य का वर्णन है, जिसमें तीन से छः स्त्रियाँ सिर पर जलभरी गगरी रखकर वर्तुलाकार गति से नृत्य करती थीं।<sup>6</sup> इसमें ज्ञात होता है कि उस समय नाट्यकला अत्यन्त समुन्नत अवस्था में पहुँच चुकी थी। नट, नर्तक, गायक, वादक, विदूषक आदि कलाकारों का उसमें समावेश हो चुका था। लौकिक समारोहों एवं सामाजिक उत्सवों पर उसका आयोजन होता था। भारतीय जन-जीवन में वह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

वैदिक काल के बाद इतिहास-पुराण काल में वैदिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त विविध उत्सवों, यात्राओं और समाजों में नाट्य का प्रयोग होने लगा था। रामायण में शैलूष, नट, नर्तक, गायक, सूत, मागध आदि शब्दों का उल्लेख अनेक अवसरों पर किया गया है। इनका अपना-अपना समाज होता था जिन्हें अपनी कलाओं के प्रदर्शन के लिए अवसर प्रदान किया जाता था।<sup>7</sup>

रामायण और महाभारत में 'नाटक' का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि उस समय नाटक का प्रयोग प्रचलित था। रामायण में उल्लिखित 'व्यामिश्र' शब्द नाटक में मिश्रित भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करता है।<sup>8</sup>

ऋग्वेदकालीन 'समन' नामक उत्सव महाभारत काल में समज्जा (समाज) के नाम से प्रचलित हुआ। महाभारत के अनुसार स्वयंवर आदि शुभ अवसरों पर 'समाज' होते थे, जिसमें नाट्य, नृत्य, गीत आदि का आयोजन होता था। महाभारत के अनुसार वारणावत में पशुपति समाज का आयोजन हुआ था। जिसमें नाट्य, नृत्य, संगीत आदि का प्रदर्शन किया गया था।<sup>9</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि रामायण एवं महाभारत काल में नाट्य मण्डलियाँ होती थी, जो विविध उत्सवों, यात्राओं और समाजों में नाट्य-प्रस्तुतियाँ किया करती थीं।

बौद्ध ग्रन्थ 'संयुक्त निकाय' में 'समज्जा' (समाज) का उल्लेख है समाज के आयोजन में विदूषक समाजोत्सव में अपनी कला का प्रदर्शन कर लोगों को हँसाता था। गिरनार के शिलालेख और उरगजातक में समाज के प्रेक्षण का निषेध किया गया है।<sup>10</sup> इससे ज्ञात होता है कि उस समय समाज का आयोजन होता था, जिसमें नाट्य की प्रस्तुति की जाती थी।

वात्स्यायन ने भी समाज का उल्लेख किया है। इनके अनुसार प्रत्येक मास या पक्ष में किसी दिन सरस्वती मन्दिर में समाज का आयोजन होता था। समाज में नट, नर्तक आदि कलाकार विभिन्न कलाओं का प्रदर्शन करते थे। इस उत्सव में बाहर से भी नट, नर्तक, कुशीलव आदि कलाकार आमन्त्रित किये जाते थे। कुशीलव नाट्य का कार्यक्रम प्रस्तुत करता था। योग्य कलाकारों को कुछ दिन और ठहरने का अनुरोध किया जाता था।<sup>11</sup>

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय समाज होते थे और उसमें नाट्य-नृत्य आदि का आयोजन होता था।

नाट्यकला के विकास में इतिहास, पुराण एवं महाकाव्यों के सस्वर वाचन का बड़ा महत्व रहा है। समाजोत्सव या अन्य अवसरों पर इतिहास-पुराण का वाचन होता था। इसके वाचक "कथक" कहलाते थे। कथक इतिहास-पुराण के आख्यानों को गा-गा कर लोगों को सुनाया करता था और जनता बड़ी रूचि के साथ कथा सुनती थी। कीथ के अनुसार कथकों का सम्बन्ध भारत से था, जो पाठकों के एक वर्ग 'भाट' के रूप में आज भी विद्यमान है। पाठकों का एक वर्ग कुशीलव कहलाता था। कीथ ने कुशीलव का सम्बन्ध रामायण के कुश-लव से जोड़ा है।<sup>12</sup> कथक का एक वर्ग 'धारक' सूत्र को धारण करने के कारण सूत्रधार या सूत कहलाया। सूत रामायण, महाभारत एवं पुराणों की कथाओं को रोचक ढंग से व्याख्या करके जनसमुदाय को समझाता था और कुशीलव गायन-वादन के द्वारा उसकी सहायता करता था। धीरे-धीरे अपनी कथा को नाटकीय रूप प्रदान किया। इतिहास और पुराण की कथाओं को ग्रन्थिक की सहायता से मंच पर प्रस्तुत किया जाने लगा और नाटक एक स्वतन्त्र विधा बन गई।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शिलालिन् और कृशाश्व द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है। इनमें जो शिलालि द्वारा प्रोक्त नटसूत्र का अध्ययन करते थे वे "शैलालिन्" कहलाते थे और जो कृशाश्व की परम्परा में दीक्षित थे वे कृशाश्विन् कहलाते थे।<sup>13</sup> इससे प्रतीत होता है कि पाणिनी के समय नाट्यकला इतनी विकसित हो गयी कि नटों को दीक्षित करने के लिए सूत्रग्रन्थों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी और नटसूत्रों की रचना होने लगी। प्रो० लेवी का कथन है कि शिलालि और कृशाश्व ये दो व्यङ्ग्यात्मक उपाधियाँ थीं। जिनके अश्व कृश (दुबले) होते थे। वे कृशाश्व कहलाते थे और जिनकी शय्या शिला ही थी वे शिलालि कहलाते थे। किन्तु कीथ ने इसे मनगढ़न्त बताया है।<sup>14</sup> भास के नाटकों में चित्र दिखाकर घटनाओं के वर्णन करने का उल्लेख मिलता है। विशाखदत्त ने चित्र दिखाकर कमाई करने वाले पुरुष का उल्लेख किया है। बाण के ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि पतञ्जलि के समय नाट्यकला का पूर्ण विकास हो चुका था। नाट्य में पाठ, गीत और अभिनय का समावेश हो गया था और अभिनेता उचित वेश-भूषा धारण कर रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन करने लगे थे। प्रदर्शन में स्त्री और पुरुष दोनों भूमिका अदा करते थे।

इस प्रकार इतिहास-पुराणकाल नाट्यकला की समुन्नति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। उस समय नाट्य का मञ्चन होने लगा था। प्रथम

मञ्चन भरत ने इन्द्रमहः के अवसर पर प्रस्तुत किया था। इन्द्रमहः सामाजिक उत्सव था। यह उत्सव विजय के उपलक्ष्य में कराया जाता था। इस प्रकार नाटक धीरे-धीरे विकसित होता रहा।

महाभारत के परिशिष्ट हरिवंशपुराण में 'रामायण' एवं 'कौवेररम्भाभिसार' नामक नाटकों के अभिनीत होने का उल्लेख मिलता है। ये नाटक प्रद्युम्न-विवाह के अवसर पर खेले गए थे।<sup>15</sup> उस समय नाटक-मण्डलियाँ अभिनय करने लगी थीं। नाट्य-मण्डली में विदूषक का महत्वपूर्ण स्थान था।

भागवत पुराण में वर्णित रासलीला नाट्यकला की दृष्टि से सर्वोत्तम है। रासलीला का आधार रासपच्चाध्यायी है। रासलीला में नाट्यकला का प्राचीन रूप देखने को मिलता है। रासलीला में श्रीकृष्ण गोपियों के साथ मण्डलाकार नृत्य करते हैं। इसे ही रासनृत्य कहते हैं। रासनृत्य का दूसरा नाम 'हल्लीस' है। नाट्यशास्त्र में 'हल्लीस' नृत्य का उल्लेख है। अभिनवगुप्त के अनुसार हल्लीस नृत्य मण्डलाकार होता था।<sup>16</sup> श्रीकृष्ण ने वेणुवादन के साथ एक नृत्य किया था, जो 'छालिक्य' कहलाया। हरिवंशपुराण के अनुसार सर्वप्रथम इसका अभिनय ऋषियों एवं देवताओं ने किया था। बाद में श्रीकृष्ण ने भूमण्डल पर प्रसारित किया।<sup>17</sup> कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में इस अभिनय को 'छलिक' नाम से अभिहित किया है।<sup>18</sup>

इतिहास-पुराण काल में नाट्यकाल का इतना विकास हो चुका था कि उस समय नट, नर्तक और अभिनेताओं को शिक्षित किया जाने लगा था। इसी दृष्टि से अग्नि पुराण और विष्णुधर्मोत्तरपुराण में नाट्यकला का शास्त्रीय विवेचन किया गया है।

बौद्धयुग में नाट्य का विकसित रूप प्राप्त होता है। उस समय सामाजिक लोकोत्सवों में नाट्य एवं नृत्य का आयोजन होता था। उसके लिए बीचोबीच रङ्गमञ्च बनाया जाता था, जिसके चारों ओर दीर्घिकाएँ होती थीं, जहाँ दर्शक लोग बैठकर प्रदर्शन देखते थे। ये प्रदर्शन इतने प्रभावकारी होते थे कि उन्हें देखने के लिए देवता, नाग, गरुड़ भी आते थे।<sup>19</sup> उस समय नाट्यकला को राज्याश्रय प्राप्त था। "राजप्रश्नीय" नामक एक जैन-ग्रन्थ में बत्तीस प्रकार के नाट्यों का वर्णन है।<sup>20</sup>

कौटिल्य के समय नाट्य-मण्डलियाँ घूम-घूम कर नाट्य एवं नृत्य का प्रदर्शन करती थीं। राज्य की ओर से इन्हें योग्यतानुसार वेतन दिया जाता था।<sup>21</sup>

नाट्यशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस समय तक नाट्यकला का पूर्ण विकास हो चुका था। नाट्य में सजीवता लाने के लिए चित्राभिनय का विधान था, जिसके अन्तर्गत अनेक हाथ-पैर वाले, हाथी, बाघ, घोड़े, बैल आदि के मुखौटे लगाकर अभिनय किये जाते थे।

नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपकों के रूप में भी नाट्यकला का विकास देखा जाता है। नाट्यशास्त्र में दश रूपकों का विधान बताया गया है। पहले लघु एवं एकांकी नाटक अभिनीत किये जाते थे। बाद में दस रूपों में उनका विकास हुआ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नाट्य का विकास नृत्य, नृत्त एवं संवाद के संयोग से हुआ है। यह विकासक्रम प्रागैतिहासिक काल से प्रारम्भ होता है और भरत के समय तक पूर्ण हो जाता है। नाट्यशास्त्र में स्वीकृत दश रूपक रङ्गमञ्च पर विविध प्रकारों में अभिनीत किये जाने लगे थे। किन्तु उत्तरोत्तर उनका विकास होता रहा है। पहले यह नाट्यकला नृत्य के रूप में उभरी, फिर उसमें भावप्रदर्शन की क्रिया मिली और नृत्य से भावप्रदर्शन किया जाने लगा। फिर संवाद का समावेश हुआ और रसात्मक क्रिया आरम्भ हुई। इस प्रकार नाट्य विकसित होकर रूपक, उपरूपक या नृत्यरूपक के रूप में रङ्गमञ्च पर अभिनीत होता रहा और उसके स्वरूप की शास्त्रीय व्याख्या भी होती रही।

#### संदर्भ ग्रंथ सूची—

1. आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य—साहित्य, पृ0 43
2. भारतीय नाट्य : स्वरूप और परम्परा, पृ0 55
3. ऋग्वेद 1/14/8 ; 2/16/7 ; 6/74/3 ; 9/96/8 ; 10/18/3
4. यजुर्वेद, अध्याय 30, मंत्र 6, 8, 10, 15, 19, 20
5. अथर्ववेद 7/109/2-5
6. ऐतरेय आख्यक 1/1
7. बाल्मीकिरामायण 2/6/14 ; 1/12/7 ; 2/83/5 ; 2/67/15
8. बाल्मीकि रामायण 2/1/27
9. महाभारत, आदिपर्व 175/16 ; 176/28-29
10. न च समाजो कर्तव्यो बहुलम्.....(गिरनार—शिलालेख, उरगजातक, पृ0 154)  
सन्दर्भ— भरत और भारतीय नाट्यकला, पृ0 75
11. कामसूत्र 1/4/15-16
12. संस्कृत नाटक (कीथ) 19-21
13. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिश्रुनटसूत्रयो (4/3/110)  
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (4/3/111)
14. संस्कृत—नाटक (कीथ), पृ0 21
15. हरिवंशपुराण, 2/11/26 तथा 2/29/32
16. अभिनवभारती, भाग—1, पृ0—181

17. हरिवंशपुराण, 2/83-84
18. मालविकाग्निमित्र, प्रथम अप्र।
19. जातक कथा 6/277, 3/61, 3/338, 6/277, दीर्घनिकाय 1/6,2/13
20. रासापसेणीय 36/84, सन्दर्भ— भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0—181
21. अर्थशास्त्र 2/27, 3/18

